पेरिस
जुलाई २६, २००६

सन्देश संख्या १०१

मानवीय चित्तवृत्ति में संकट

(३० मई २००५ को स्तारा जगोरा, बुल्गारिया में सार्वजनिक वार्ता)

बुल्गारिया के क्रियावानों ने यह इच्छा व्यक्त की कि इस वार्ता को वेबसाइट पर भी उपलब्ध करा दिया जाय । चूँकि वार्ता सदैव बिना किसी पूर्व तैयारी के स्वतः स्फूर्त होती है, इसलिए उनलोगों से इस वार्ता की रेकॉर्डिंग को लिखकर भेजने का आग्रह किया गया । रेकॉर्डिंग मशीन ठीक न होने, वक्ता की अंग्रेजी बोलने की भारतीय शैली तथा श्रोताओं द्वारा अंग्रेजी ठीक से न समझ पाने के कारण भेजे गए लेख की कमियों को सुधार कर इस वार्ता को सन्देश १०१ के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

यह वक्ता सन् २००१ से ही इस खूबसूरत शहर में आता रहा है लेकिन पिछले वर्ष दूसरे शहर में जाना पड़ा, अतः यहाँ नहीं आ सका । इस तरह, यह शरीर बुल्गारिया जो पूर्व और पश्चिम के बीच सुषुम्ना के समान है, के कुछ सर्वाधिक समर्पित क्रियावानों के साथ होने के आनन्द से वस्तुतः वंचित रह गया। इस संध्या में हम एक अत्यन्त गंभीर मानवीय समस्या को क्रमशः देखेंगे।

मनुष्य जिस स्थिति में जी रहा है उस स्थिति में आखिर वह क्यों है ? वह सभी प्रकार की पीड़ा, दुःख–दर्द, क्रोध और मात्सर्य के साथ क्यों है? पूर्वानुमान, महत्वाकांक्षा तथा और अधिक पाने एवं और अधिक संग्रह करने की अदम्य लालसा का यह अन्तहीन दबाव क्यों है? मानव–चित्तवृत्ति सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों, अंधविश्वासों, कथा–कहानियों, मिथकों एवं चमत्कार की इच्छा, विश्वासपद्धतियों एवं धर्मान्धता, मूर्खतापूर्ण आदतों एवं चिन्ताओं, विचारों एवं व्यक्तिगत विशिष्टाओं, मतों एवं मताग्रहों, पाखण्डों एवं विरोधाभासों तथा यहाँ तक कि मानसिक विकृतियों एवं विभ्रान्तियों से ग्रसित क्यों है? सूक्ष्म या स्थूल रूप से अन्तर्निहित भय, मानव की सभी गतिविधियों पर हावी होकर नियन्त्रण क्यों कर लेता है ? और तभी तो मानव की सभी गतिविधियाँ केवल पूर्व धारणाओं एवं निष्कर्षों की प्रतिक्रिया मात्र होती हैं न कि प्रत्यक्षबोध और समझदारी से उत्पन्न क्रिया। आखिर क्यों आध्यात्मिक बाजार में ईश्वर पर ढेरों किताबें लिखी जाती हैं और उसमें ईश्वर को पाने के लिए मनुष्य को क्या–क्या करना चाहिए, का वर्णन किया जाता है? क्या इन सभी का कारण भय नहीं है? और क्या भयभीत व्यक्ति के लिए कोई भी वास्तविक वस्तु प्राप्त कर पाना सम्भव है? आखिर हम पोप, बर्नार्ड रसेल, मार्क्स, माओत्से तुंग, यहूदी, इस्लाम, ज्यां पाल सात्रे, रेने देस्कार्ते इत्यादि की अवधारणाओं एवं विभिन्न दर्शनों में क्यों फँस जाते हैं? सभी बन्धनों से मुक्त जीवन का एक सच्चा प्रेमी क्या कभी मन से उत्पन्न दर्शनशास्त्र तथा उसके मिथ्याभिमान और निहित स्वार्थ को अपना सकता है? मनुष्य क्यों केवल अवधारणा आधारित मृत मानसिक प्रतिक्रियाओं में जीता है, किन्तु जीवन्त समझदारी की क्रिया में नहीं रहता? वह क्यों केवल आज्ञा मानता है या अवज्ञा करता है किन्तु समझता नहीं? मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक स्तर पर–स्वयं में, परिवार में, समाज में, राजनीति में, अर्थनीति में, संस्कृति में, देश के अन्दर या अन्तरर्‍ाीय मामलों में, सर्वत्र बिना किसी निश्चयता एवं समझदारी के हमेशा द्वन्द्व में क्यों रहता है? यह ''संयुक्त राष्ट्र संघ'' अन्तरराष्ट्रीय विवादों में सर्वथा असहाय और मूकदर्शक बनकर क्यों रह जाता है? यह उस समय भी कुछ नहीं कर पाता जब विश्व–व्यापी विरोध के बावजूद किसी एक देश पर किसी दूसरे शक्तिशाली देश द्वारा उसे अपना तेल पम्पिंग स्टेशन बनाने के लिए एक पक्षीय ढंग से जबरन युद्ध थोप दिया जाता है । यह युद्ध भी इस बहाने किया जाता है कि उस देश के पास व्यापक जनसंहार के अस्त्र–शस्त्र हैं जबकि युद्ध थोपने वाले देशों द्वारा स्वयं बिना किसी भय के इनका निर्माण एवं संग्रह धड़ल्ले से किया जा रहा है जो कि इस पृथ्वी पर सम्पूर्ण मानवता और दूसरे जीवों के लिए भी खतरा हैं । वस्तुतः राष्ट्र का अर्थ है विभाजन। अतः ''संयुक्त राष्ट्र'' का अर्थ होगा संयुक्त विभाजन । क्या यह इस अर्थ में विरोधाभासी नहीं है, जबकि विश्व के तथाकथित सर्वाधिक बुद्धिमान लोग पाखण्ड, दिखावा एवं धोखा की अवस्था में इससे पूर्ण रूप से अनजान बने रहते हैं? यू.एन. का अर्थ होना चाहिए –''अन्डरस्टैंडिंग नो–नेशन'' (अर्थात् विभाजन रहित विश्व की समझदारी) क्योंकि यह हमारी

पृथ्वी वृक्षों समेत सभी जीवों की है । यह अमेरिकी, अरबी, ब्रिटिश, चाइनीज, फ्रांसीसी या स्पैनिश पृथ्वी नहीं है । यह भारतीय, जापानी या अफ्रीकी मस्तिष्क नहीं बल्कि एक मानव–मस्तिष्क है । यह सर्वत्र एक समान है । ठीक उसी तरह जैसे कुत्ता, बिल्ली, कबूतर या गोरैया की विभिन्न प्रजाति होते हुए भी उनका मस्तिष्क सर्वत्र एक समान है । जीवन विविधता से परिपूर्ण तो है, किन्तु इसमें विभाजन नहीं है । मानव–चित्तवृत्ति में विभाजन एवं विखण्डन विभेदकारी प्रक्रियायें उत्पन्न करती हैं और ये विभेदकारी प्रक्रियायें मानसिक पंजीकरणों के कारण होती हैं ।

हमारा शरीर अनोखा है, अद्वितीय है, फिर भी हम व्यक्ति विशेष नहीं हैं। हम विभाजित नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवता हैं । यह कोई आदर्श नहीं है । आदर्श तो नृशंस होते हैं, ''मैं'' से पूर्ण होते हैं अर्थात् पवित्र चोले के अन्दर निपट स्वार्थसे युक्त होते हैं । यह एक तथ्य है कि अत्यधिक विविधता के बावजूद भी सम्पूर्ण मानवता एक है । ''मैं'' एक सन्दर्भ या पहचान के लिए या आस–पास के तकनीकी तथ्यों के समन्वयक के रूप में रह सकता है किन्तु मानसिक अवशेषों एवं अवसादों को निरन्तरता प्रदान करने वाले के रूप में नहीं। मन जीवन का शत्रु है, क्योंकि यह सभी प्रकार की मानसिक अस्थिरता एवं उत्तेजना से उत्पन्न अभिमान और स्वार्थ का विषाणु (वाइरस) है । तुम जीवन हो, मन नहीं । मन के अनुभवों से मुक्ति ही जीवन का आनन्दमय अस्तित्व है । जीवन न कभी जन्म लेता है और न ही कभी मरता है । जीवन से युक्त शरीर ही केवल जन्म लेता है और मृत होता है और वही चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है । जीवन की यह युक्तता ही आत्मा है (कठोपनिषद) न कि घटिया एवं क्षुद्र भ्रांति ''मैं''। यह मिथ्या ''मैं'' मानवीय चित्तवृत्ति में विखण्डन से उत्पन्न होता है और स्वयं को निरंतरता और स्थायित्व देने के लिए स्वयं को ही आत्मा के रूप में कल्पना करता है और फिर यही ''मैं'' एक ''परम आत्मा'' अर्थात् ईश्वर को प्रक्षेपित करता है तथा कल्पना करता है कि एक दिन वह उस परमात्मा में मिल जाएगा। ऐसा वह सर्वोच्च बनने की अन्तहीन भ्रांति तथा बाध्यता के कारण करता है किन्तु वह अस्तित्वमय जीवन और प्रबोध के परमानन्द का स्पर्श कभी नहीं प्राप्त कर पाता ।

मनुष्य भ्रांतियों, कृत्रिम आदर्शों, विश्वास या अविश्वास पद्धतियों में क्यों जीता है? आखिर ऐसा क्यों है कि पिछले पाँच हजार वर्षों के दौरान एक दिन भी ऐसा नहीं रहा जब पृथ्वी के किसी न किसी भाग पर युद्ध, अकारण हत्या, या विध्वंस न हुआ हो? क्यों हम मनुष्य हमेशा आततायी राजाओं, सम्राटों और नेताओं को उत्पन्न करते हैं और उनकी क्रूरता द्वारा प्राप्त विजय तथा उनके द्वारा किए गए लाखों लोगों के नरसंहार की प्रशंसा करते हैं? क्या यह संभव नहीं है कि मानवीय चित्तवृत्ति में मूलभूत रूपान्तरण हो जाय ताकि विखण्डनरहित एक पूर्ण मनुष्य का आविर्भाव हो? ऐसा सम्भव है क्योंकि इसी पृथ्वी पर पूर्ण शून्यता के परमानन्द को उपलब्ध पूर्ण मानव जैसे कि बुद्ध, यीशु, कबीर, नानक, कपिलाचार्य, पतंजलि, व्यास, बादरायण, कृष्ण, लाहिड़ी महाशय इत्यादि के अतिरिक्त कई अन्य अनाम और अज्ञात अवधूत भी उत्पन्न हुए हैं। दानवी प्रवृत्ति वाले पुरोहितों और राजनीतिज्ञों के विनाशकारी गतिविधियों के बावजूद वे इस सुन्दर ग्रह पर रहे है ।

यह वक्ता अवधारणाओं का निरूपण नहीं करता और न ही आप से अपनी अवधारणाओं को मनवाने का प्रयास करता है । यह तो मानसिक अनुबंधनों के प्रदूषणों से मुक्त समझदारी की ऊर्जा को संप्रेषित मात्र करता है । अवधारणाओं के आधार पर संगठन संगठित होते हैं, ताकि संगठन के विभिन्न स्तरों के पदाधिकारियों के अहम् को तु किया जा सके या फिर, तथाकथित क्रांतिकारी नेताओं द्वारा किसी ''क्रांति'' के लिए लोगों को भड़काया जा सके जो कि वस्तुतः मौलिक रूपान्तरण न होकर केवल उन नेताओं का 'मैं–पना' होता है जो पुराने नेताओं के 'मैं–पना' की परिष्कृत निरन्तरता मात्र होती है । 'क्रांति' के ये नेता अब नए प्रकार से शोषण और विध्वंस में व्यस्त हो जाते हैं । समझदारी की ऊर्जा से युक्त क्रियावानों का कोई संगठन नहीं होता । फिर भी वे मानसिक प्रदूषण के हस्तक्षेप के बिना अपने दैनिक कार्यों को निपुणता एवं पूर्णता के साथ करने हेतु स्वयं में संगठित होते हैं । वे धार्मिक या आध्यात्मिक होने के बहाने माफियाओं जैसा व्यवहार नहीं करते । जीवन्तता और सत्यनिष्ठा के गुण तुम्हें विद्रोही बनाते हैं । भ्रांति और वैचारिक प्रदूषण विद्रोही नहीं बनाते। विद्रोही होना है–मन से जीवन, अवधारणाओं से बोध तथा अनुबंधनों की आपाधापी से समझदारी की ऊर्जा में मूलभूत रूपान्तरण। तब तुम सत्ता, संग्रह, स्थान, और

प्रभुत्व पाने के लिए ''क्रांतिकारी'' के रूप में सिकन्दर 'महान', चंगेजखाँ, हिटलर, स्टालिन, पोलपॉट, या उनके जैसे दूसरे दानवों जैसे नहीं रहते अपितु एक विद्रोही के रूप में तुम ईसा मसीह या बुद्ध जैसे होते हो ।

अतः आइये, हम सब अपने भीतर अत्यन्त गंभीरता के साथ प्रवेश करें। हम मानव–मस्तिष्क में स्नायविक–दोष जो विखण्डन, अलगाव और विभाजन उत्पन्न करता है, को देख सकते हैं । यही विभाजन और विखण्डन मानवीय चित्तवृत्ति में संकट है । इस विभाजन से मुक्ति ही दिव्यता का उदय है और यही विखण्डन के संकट से रहित सर्म्पूण मानव होना है । चित्तवृत्ति के मूलभूत अवयवों में मुख्यतः स्मृति में तकनीकी और तथ्यात्मक पंजीकरण होते हैं जो प्रतिदिन के परिस्थितिजन्य व्यवहार में ठीक ढंग से कार्य करने में हमें सक्षम बनाते हैं । लेकिन तथ्यों के साथ–साथ मानसिक प्रदूषण जुड़ जाने से ''मैं'' अपनी छवियों एवं प्रयोजनों के साथ खड़ा हो जाता है और इसी कारण अनुक्रिया के स्थान पर प्रतिक्रिया होती है जो अपर्याप्त और पक्षपातपूर्ण होती है । उदाहरण के लिए, अपने पालन–पोषण के दौरान मुझे स्मृति में तथ्य के रूप में अपना घर, कपड़े, भोजन, अपनी विशेष सांस्कृतिक परम्परा को अंकित करना है जिससे कि मैं समाज में अनुपयुक्त न हो जाऊँ, किसी गलत घर में न घुस जाऊँ, गलत भोजन न कर लूँ, कपड़े ठीक ढंग से पहन सकूँ इत्यादि । लेकिन इन तथ्यों के साथ–साथ मानसिक पंजीकरण होने से छवियाँ एवं अनुबंधन उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे व्यक्ति तुलना, प्रतिस्पर्धा, टकराव, अनुकरण, अनुसरण तथा कुछ बनने के चक्कर में फँस जाता है ।

यह शरीरी चित्तवृत्ति अपने सभी अवयवों तथा अवयवों के भी विभाजनों, वर्गीकरणों, विपरीतों, तथा विखण्डनों सेमिलकर बनी है । अवयवों का यह समूह अपने से अलग एक बृहद विखण्डन उत्पन्न करता है जिसे ''मैं'' कहा जाता है और यह ''मैं'' स्वयं को चित्तवृत्ति के अवयवों के क्षेत्र से अलग मानता है । लेकिन इस ''मैं'' के अवयव और चित्तवृत्ति के अवयव, दोनों एक ही हैं । ये दो नहीं है । फिर भी, यह विभाजन बना रहता है और ये एक दूसरे को संभालते हैं, बढ़ाते हैं और मजबूती प्रदान करते हैं जिससे अन्तहीन जटिलतायें, गड़बड़ियाँ और उपद्रव उत्पन्न होते हैं । फिर सम्पूर्ण जीवन अनुकरण करने तथा कुछ बनने की सनक में तथा ''मैं'' के तुष्टीकरण, पुष्टीकरण एवं महिमामण्डन की भ्रान्ति में न हो जाता है । मानवीय चित्तवृत्ति क्षुद्र बातों के चारों ओर गोल–गोल घूमती रहती है और इसी कारण मानव–संबंधों के प्रत्येक स्तर पर टकराव एवं पीड़ा उत्पन्न होती है । यह सीमित शरीरी चित्तवृत्ति उस अशरीरी चिति–शक्ति (सर्वव्यापी चैतन्य) की ऊर्जा के प्रति तब तक जाग्रत नहीं हो सकती जब तक इस शरीर में स्थित जीवन (न कि मन और बुद्धि) को यह बोध नहीं हो जाता कि ''मैं'' एक भ्रान्ति है । भय शरीरी चित्तवृत्ति का एक मूलभूत अवयव है । उस भय को ''मैं'' (जो स्वयं भी भय ही है) द्वारा जीतने के बिना किसी प्रयास के केवल समझ लेना ही पर्याप्त है और तब तुम जो हो (अर्थात् भय), का मौलिक रूपान्तरण हो जाता है । इस अवस्था में व्यक्ति भय से पूर्णतया मुक्त हो जाता है न कि उससे केवल सामंजस्य बैठाता है । शरीरस्थ जीवन तब उस चैतन्य के प्रति जागृत हो जाता है । वह चैतन्य कोई अनुभव नहीं जिसे ज्ञात (जानकारी) के रूप में क्षुद्र स्मृति में एकत्र किया जा सके । ज्ञात से मुक्ति ही अद्वैत वेदान्त है । गणित में, दो में से एक निकाल देने पर एक शेष बच जाता है । लेकिन आध्यात्मिक गणित में जब एक अर्थात् ''मैं'' चला जाता है तो दूसरा अर्थात् ''मैं'' को उत्पन्न करने वाला चित्तवृत्ति भी समाप्त हो जाता है। यह शून्यता ही पूर्णता और पवित्रता है । यह शरीर में विभेदकारी चित्तवृत्ति की गलाघोंटू पकड़ से जीवन की पूर्ण तथा शर्तरहित मुक्ति है । केवल यही समझदारी मानव–सम्बन्धों के प्रत्येक स्तर पर विद्यमान संकट को दूर कर सकती है और इस पृथ्वी पर स्वर्ग ला सकती है । यही स्वाध्याय, तप और ईश्वर प्रणिधान के रूप में क्रियायोग का सन्देश है जो क्रमशः सांख्य, योग और वेदान्त का सार है ।

।। पृथ्वीमाता की जय ।।